62 - No. 2

ॐ ओ३म् तत्सत् ॐ

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष ६ Year 6

अंक २ Number 2

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर (उ०प्र०)
(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission
Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मण्डल
काशीराम अग्रवाल, शाहजहाँपुर
सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ०प्र०)

1962 . 12 .

वार्षिक मूल्य ३) एक अंक १)

प्रकाशक — श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट शाहजहांपुर
उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

विषय सूची :-

विषय	लेखक	पृष्ठ
१—प्रार्थना		१
२—सम्पादक की बात		२
३—ब्रह्म ज्ञान	समर्थ गुरू महात्मा रामचन्द्र जी फतेहगढ़	३
४—गुरू, शिष्य और साधना	श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन	६
५—दर्द भरे आँसू	(एक अभ्यासी की सच्ची कहानी)	१६
६—प्रार्थना	श्री ईश्वरसहाय	२७
७—वैराग्य	कुमारी पुष्पारानी सक्सेना	३१
8. Gita	Shri Ram Chandra, President	35
9. Emotional Integration of India	S. C. Srivastava M. A.	42
10. Surrender	Shri Ishwar Sahai	46
11. A Thought	Shri Raghavendra Rao B. Sc., B. E., M. I. S. E.	53
12. Talks on Efficacy of Rajayoga	Dr. K. C. Varadachari M. A., Ph. D.	58

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

Rules of moral Discipline

1. Lead a simple life, uninfluenced by surroundings.
2. Be gentle, polite and sweet.
3. Maintain cordial dealings with neighbours and relations keeping yourself free from narrow bonds of relationship.
4. Pay due attention to responsibilities regarding children, family and relations. Husband and wife should act like the two wheels of a vehicle for the due discharge of household duties.
5. Give up the mania of friendship.
6. Develop uniform taste for all articles of food, with due regard to the pious and the unpious.
7. Behave with your officers with proper submission, abiding by the rules of subordinstion.
8. Avoid imposing your uncalled for opinion.
9. Avoid prescribing medicines to patients (physicians exempted) except in most exception cases where you are convinced that the case is otherwise going out of control.
10. Avoid telling your secrets to others and do not let one feel that it is being held up from him.
11. Avoid accepting personal services from others, except when it is unavoidable and that too only to the extent to which you yourself can be prepared for in return.
12. Avoid indulging in loose talks or reading of novels etc.

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठोजागो !! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो)

वर्ष ६] शाकाब्द १८८४, सं० २०१६ विक्रमी [Year 6
अङ्क २] Year 1962 [No. 2

प्रार्थना

हे नाथ, तू ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है।
हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक हैं।
तू ही हमारा एकमात्र स्वामी और इष्ट है।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।

O, Master, Thou art the real goal of human life
We are yet but slaves of wishes
Thou art the only God and Power
to take me upto that stage.

[श्री रामचन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

सम्पादक की बात :—

अपनी पत्रिका के सहृदय ग्राहकों और पाठकों को यह सूचित करते हुये हमें हर्ष हो रहा है कि पिछले कुछ अंकों के प्रकाशन में जो देर हो जाती थी वह अब दूर हो गई है । समर्थ सद्गुरु की आशीष और सहृदय पाठकों के स्नेह का सम्बल लेकर हमारी पत्रिका प्रगति पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होती रहे, यही अनन्त परमात्मशक्ति से हमारी प्रार्थना है।

गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी श्री कृष्णजन्माष्टमी २१ अगस्त को अपने मिशन में मनाई जावेगी । सभी सत्संगी भाई-बहिनों से प्रार्थना है कि वह इस शुभ अवसर पर पधारकर सत्संग का लाभ उठावें।

इस वर्ष पारिवारिक कारणों से श्रद्धेय 'बाबू जी' को अपना दक्षिण भारत का दौरा स्थगित करना पड़ा। अब सितम्बर मास में पूर्वी भारत का दौरा करने का उनका इरादा है। हमारी प्रार्थना है कि उनकी यह यात्रा मंगलमय हो और देश के उस भाग में नव जाग्रति की प्रेरक बने।

—सम्पादक

ब्रह्म-ज्ञान

(समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़)

(क्रमागत)

नीचे के क्षेत्र में यह दिल मूढ़ गति (ला इल्मी की हालत) में रहता है। बीच के भाग में यह चञ्चल रहता है और इसी चञ्चलता के अन्दर प्रगति करने से उसमें अज्ञानी और ज्ञानी के गुण पैदा हो जाते हैं। ऊँचे क्षेत्र में आकर यह स्थित, ठहरा हुआ स्थिर और शान्त हो जाता है। उस समय इसको न कोई मूढ़ कह सकता है, न चञ्चल, न अज्ञानी न ज्ञानी।

यह हालतें उस पर केवल तीन घाट या तीन क्षेत्रों पर बैठने से आती हैं। यह उनके असर को अपना लेता है और उनके जैसा बन जाता है।

मूढ़, गतिशून्य को नहीं कहते हैं बल्कि सुस्त, बे अक्ल, बे तमीज अर्थात् निर्बुद्धि और निर्विवेकी को कहते हैं, जो कर्म करता है किन्तु न उसको जानता है और न परिणाम को जानता है, न बोल सकता है न कह सकता है। मूढ़ जगत के काम का क्षेत्र और वृत्त बहुत व्यापक है।

चञ्चल गतिशील को कहते हैं, जो बेचैनी, अशान्ति, आगा-पीछा, इधर-उधर, अगर-मगर किन्तु परन्तु में पड़ा रहता है। उसमें मूढ़ता तो है किन्तु इस मूढ़ता में इतनी नई हालत आगई है कि हिचकिचाता रहता है। एक दम निर्णय करने की ताकत उसमें

नहीं है। मूढ़ तो बिना आगा पीछा देखे कर्म करता है, चञ्चल में आगा पीछा रहता है, यह उनके बीच अन्तर है। फिर यही चंचल आगा पीछा की आदत की अधिकता से अज्ञानी हो जाता है। इसे निचले क्षेत्र के कर्मों का काफी अनुभव हो गया है और कुछ श्रेष्ठतर विवेक उत्पन्न हो गया है। जिसके कारण यह इतना जानता है कि संसार में इस कर्म का यह परिणाम होता है। यही विचार उसे शुभ और अशुभ फल का अधिकार प्रदान करता है। फिर जब यह शुभ और अशुभ फल को भोगते भोगते अनुभव की प्रौढ़ता प्राप्त कर लेता है (पुख्ता-कार बन जाता है), तो फिर उसमें ज्ञान की स्फुरना (स्फुरण) आरम्भ होती है। इस ज्ञान की सहायता से वह निचले बीच के और ऊँचे क्षेत्रों की सैर करते हुए उनके कर्मों के कारण और परिणाम के ज्ञान पर अधिकार प्राप्त करता है, और एतदाल (समत्व) का मार्ग अपना कर अपने आपको सँभाल लेता है। इसका क्षेत्र अपेक्षतः सीमित है।

शान्त और स्थिर ठहरे हुए को कहते हैं। शान्त नाम है आनन्दमय (लतीफ़) शुद्ध असलियत (जौहर) का। इसकी संस्कृत धातु 'शम्' है जिसका अर्थ ही शान्ति और स्थिरता (सुकून) है। यह इस दिल या मनकी ऊर्ध्वमुखी दशा है।

उदाहरणार्थ तुम खाना खाते हो। यदि मूढ़ हो तो जानवर की तरह खाने पर गिरे रहोगे और परिणाम की ओर से बेखबरी होगी जैसा कुत्ता और बिल्ली का हाल होता है। किन्तु मनुष्यता की हालत में यह कैफियत न होगी। तुम्हें स्वाद लेते हुए खाने की हालत का ज्ञान रहेगा। यह ज्ञान अधिकतर जिह्वा, दाँत और गले

तक ही सीमित है। गले के नीचे उतरते ही फिर ज्ञान नहीं रहता। यह ज्ञान बीच की स्थिति में दिल की विशिष्टता है, जो ज्ञान और अज्ञानता की मिली जुली ग्रन्थि है। इसी को जड़ और चैतन्य की ग्रन्थि कहते हैं। अब तुम मूढ़ क्षेत्र की ओर ध्यान दो! खाना खा लिया गया। वह पेट (मेदा) में आ गया। पेट उसे मूढ़ कर्म अर्थात् अज्ञानता के नियम के प्रभाव के अन्तर्गत हज़म करता है, मल-मूत्र, चर्बी, रक्त, धातु; वीर्य, ओजस आदि में परिवर्तित करके एड़ी से चोटी तक पहुँचाता रहता है। किन्तु न कोई बता सकता है न जानता है कि यह सब कैसे होता है, यद्यपि काम तुम्हारा निम्नस्तरीय मन और तुम ही किया करते हो और दूसरा कोई नहीं करता किन्तु बेखबरी और बेइल्मी रहती है। इसी का नाम मूढ़गति मूढ़कर्म और मूढ़चाल है। यह विस्तृत क्षेत्र घेरता है। बीच के अर्थात् हृदय के क्षेत्र के विषय में कुछ तो मैं पहले सुना चुका हूं। इसमें खाने का स्वाद, सुख तथा अधिकता और कमी का ज्ञान है जो सीमित है। यह उसकी पहली हालत है। फिर वह उसे बढ़ा कर अज्ञानी बनाता है, जिस हालत में वह अपनी शारीरिक अर्थात् स्थूल देह सम्बन्धी स्थितियों और घटनाओं की खबर तो रखता है किन्तु अपनी खबर नहीं रखता। फिर यह अनुभवों की व्यापकता के कारण प्रगति कर जाता है तो ज्ञानी हो जाता है, और समझ बूझ बढ़ जाती है। फिर भी यह उतना व्यापक नहीं होता। इसके बाद जब यह मन ज्ञानी होकर शान्त हो जाता है तो उसे आनन्द प्राप्त होता है, और शान्ति तथा स्थिरता की हालत में छेड़ देने से उसमें प्रज्ञा चक्षु का गुण (रोशन

ज़मीरी) आता है, और बेखबरी तक की खबर दे सकता है। यह मन की तीन सूरतें केवल उसकी अनेक बैठकों और स्थितियों के प्रभाव के कारण हैं जिसे तुम मन के घाट कहते हो।

प्रज्ञाचक्षुता तो ज्ञानी ही का एक भाग है। ज्ञानी के अतिरिक्त और किसी को प्रज्ञाचक्षु कहा भी नहीं जा सकता। किन्तु वह ऐसा ज्ञानी है जिसकी बैठक आत्मा या कारण शरीर में है जो आनन्दमय है। इसी को शास्त्र तुरीय कहते हैं। तुरीय का वास्तविक अर्थ बहुत कम लोग जानते हैं यह संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध शब्द 'चतुर' से निकला है, जिसका अर्थ है चौथा। शब्द तो सभी जानते हैं किन्तु इसका अभिप्राय नहीं जानते। यह तुरीय चतुर्थ पद है, जो सत (हस्ती, अस्तित्व) चित (इल्म, चैतन्य) और आनन्द (सरूर, सुख, सुकून, स्थिरता) से ऊँचा है। अभी तक दिल के केवल तीन ही स्थान और बैठक बतलाए गये हैं किन्तु चौथे स्थान का ज़िक्र आगे आयेगा।

यह सत चित् आनन्द भी शरीरिक है। सत् अर्थात् हस्ती या अस्तित्व स्थूल देह अर्थात् कसीफ जिस्म है। जो दृष्टिगोचर हो और जिसके दृष्टिगोचर होने से उसके अस्तित्व का ज्ञान हो। जिस अस्तित्व को देखने, सुनने, सूंघने, छूने और चखने वाले को उसके अस्तित्व का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा हो, जिसके लिए सिवाय उसके अस्तित्व के और किसी प्रकार की बहस, दलील और हुज्जत की आवश्यकता न रहे, वह सत् अर्थात हस्ती ही है। अब सोचो कि यह तुम्हारे स्थूल देह के विषय में है या नहीं।

यदि है और उसके होने को तुम मान रहे हो तो फिर उसकी सत्ता या हस्ती के मानने से इन्कार करना कठहुज्जती है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध अर्थात् इन्द्रीय ज्ञान द्वारा सिद्ध या साबित है।

चित् (दिल या चैतन्य) सूक्ष्मशरीर और आनन्द (लतीफ़) आन्तरिक अर्थात् कारण शरीर है। जो सोचा जाये, सोचने में आये, सोच विचार से समझा जाय जो अपनी समझ बूझ, चिन्तन विचार और विवेक आदि से अपने ज्ञान की हालत को व्यक्त करे जिसकी चिन्तनात्मक विधि, अन्वेषणात्मक काट-छाँट, बौद्धिक प्रयत्न, दिमागी समझ और दिली जिद्दत (उन्मेष) और उपच द्वार सोचने वाले, विचार करने वालों, अनुभव करने वाले बुद्धिमान चेतन प्राणियों पर अपने मस्तिष्क की शक्ति का सिक्का बिठा सकें, जो अन्वेषक बुद्धि तुरन्त ग्रहण करने वाली समझ, विवेकपूर्ण विबोद्ध ज्ञान प्राप्ति की शक्ति और दूर तक देखने वाली बुद्धि द्वारा अपने आपको व्यक्त करता हो। वह दिल अर्थात शरीर की योग्यता और काबिलियत के अतिरिक्त और क्या होगा? इस दिल के अस्तित्व से इन्कार करना कठहुज्जती है। यह अनुमान सिद्ध है अर्थात कल्पना, विचार और बुद्धि सम्बन्धी ज्ञान द्वारा सिद्ध अर्थात साबित है।

आनन्द, आत्मा अर्थात् कारण शरीर आनन्दमय अलतफ़ और अन्तरम् (बातिन) का आन्तरिक शरीर है। यह आनन्द संस्कृत धातु 'नदि' (खुश होने या खुश करने) से बनता है। जिसके मेल से सुख उत्पन्न हो, जिसमें दुख का नाम निशान तक न रहे,

जो हीनता अपूर्णता, ग़रीबी, कमी त्रुटि आदि दोषों से रिक्त हो वह आनन्द है। इस आनन्द को कारण शरीर के अतिरिक्त और क्या कहा जायगा ? इसका सुख रूप होना शब्द सिद्ध है, अर्थात् शहादत (गवाही) से उसका ज्ञान स्वयं अपने आप को होता है। अब सवाल यह है कि शहादत अर्थात् गवाही किसको ? उत्तर यह है कि अपने आप शब्द से शहादत हो, इसके सिवा और किसी की गवाही कैसी ! तुम क़सीफ और स्थूल देह रखते हो यह तुम्हारे अस्तित्व (हस्ती) को अभिव्यक्ति और स्वीकृति का साधन है तुम भी इसको जानते हो यह शरीर न होता न तो तुम को अपना ज्ञान होता और न दूसरों को तुम्हारे अस्तित्व का ज्ञान होता।

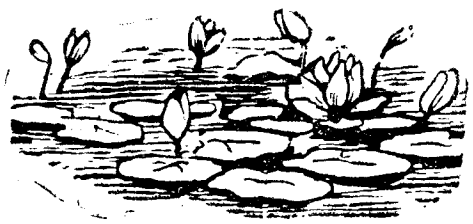

[अगले अङ्क से इस लेख से आगे का लेख प्रारम्भ होगा]

गुरू, शिष्य और साधना

(श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन)

गुरू सबका सचमुच ईश्वर ही है, और हमको रोशनी हर काम की वाक़ई तौर पर वहीं से मिलती है। जिसने अपने दिल का शीशा साफ कर लिया उसको वहां से अनुभव होता है साधारण लोगों और खास व्यक्ति में अन्तर केवल इतना है कि खास बन्दा हर खटक को जो ईश्वरीय मंडल में होती है अनुभव करता है, साधारण लोग साफ न होने के कारण इस खटक का अनुभव नहीं करते। इस लिए ऐसे बन्दे की सोहबत की जरूरत होती है जिसके दिल का आईना साफ हो चुका हो और वह रोशनी अभ्यासी में दिल को साफ करके डाल सके। घर वही है, अन्तर केवल इतना है कि एक व्यक्ति ने साफ कर लिया है और दूसरा कूड़ा करकट जमा किये हुए है। इसलिए कहने को आप कह लें कि जिसमें रोशनी सीधे-सीधे आ रही हो वह उससे अच्छा है। मकान एक ही कारीगर का बनाया हुआ है और उसी के हुक्म से हम उसमें रहते हैं। जिसमें रोशनी है उसका मकान भी उसी का बनाया हुआ है। इसका अर्थ यह है कि मालिक एक है।

कोई व्यक्ति यदि गुरू की हैसियत से तामील करने के लिये मैदान में आता है तो इसका अर्थ यह हो जाता है कि जो रुतबा ईश्वर के लिये है वह रुतबा उसने अपना लिया है। जाहिर है कि एक मुल्क में दो बादशाह नहीं रह सकते। उनमें हमेशा लड़ाई झगड़ा ही रहेगा अतः यदि कोई व्यक्ति गुरू की हैसियत से

तामील करता है तो वह सही अर्थ में लाभ नहीं पहुँचा सकता। अतः आवश्यक है कि वह अपने आप को एक तुच्छ भाई समझे और ऐसा ही व्यवहार अपनाये। भाई, मुझे तो एक नाचीज बन्दा समझिए। ऐसे व्यक्ति को यदि खादिम (सेवक) समझ लिया जावे तो बहुत उचित होगा। खिदमत (सेवा) कई तरह से होती है शारीरिक और आत्मिक। मैं आप सब की आत्मिक सेवा करता हूँ, और शारीरिक सेवा में भी मुझे कोई शर्म या परहेज नहीं। मैं अपने गुरू महाराज के कदम ब कदम चलने की कोशिश करता हूँ, और यह मालिक पर निर्भर है कि वह इस विषय में मुझे कहाँ तक सफलता प्रदान करे। मेरे गुरू महाराज का यह हाल था कि हम सब को अपना भाई समझते थे, शिष्य का विचार कभी उनके दिल में तमाम उमर पैदा नहीं हुआ। मेरी राय यह है कि समय को देखते हुए तरीका भी बदलना चाहिए। पहले यह था कि गुरू अपने शिष्यों से सेवा ग्रहण करते थे, हाथ पैर दबवाते थे, इसलिए कि उनका संस्कार ईश्वर मार्ग के लिये बन जावे। कारण यह था कि हाथ दबवाने, पैर छुवाने से वह बिजली जो गुरू में मौजूद थी शिष्यों के शरीर में प्रविष्ट होती थी और उनके ख-याल का अटकाव भी सेवा की तरफ रहता था। इससे उनका खयाल गुरू से सम्पर्क (Touch) में रहता था। दूसरे अर्थ में अभ्यासी का ध्यान अपने गुरू की ओर मुड़ा रहता था, जिससे अभ्यासी की शुद्धता बढ़ती थी। अब चूँकि समय में बहुत कुछ परिवतन हो गया है, अतः इस स्थिति में भी परिवर्तन होना चाहिए। अर्थात् यदि यही सेवा गुरू अभ्यासी की करे तो अभ्यासी को वही फायदा मिलता है जो उसके गुरू की सेवा करने में मिलता था।

भाई मैं तो इसी बात को मानता हूँ कि गुरू अभ्यासी की सेवा करे अध्यात्मिक उन्नति में एक अवस्था ऐसी आती है कि उससे अपने आप रुहानी बिजली चारो ओर बिखरने लगती है और उनका फैलाव यहाँ तक हो जाता है कि उसकी यह शक्ति स-मस्त वायुमंडल और लोकों में छा जाती है असर स्वभावतः यह होता है कि हर चीज चार्ज हो जाती है। और भाई यह बात उस समय होती है जब किसी ऐसे व्यक्ति को प्रकृति स्वयं चुन लेती है, और उसकी स्थिति अवतार की हो जाती है इसको अवश्यावतार कहा जा सकता है अर्थात् आवश्यकता के लिए ऐसे व्यक्ति को बना देना। ऐसे चिन्ह जिस समय मिलें, समझ लेना चाहिए कि प्रकृति (कुदरत) उसमें होकर अपना काम कर रही है। ऐसी हालत में यदि कोई व्यक्ति तालीम न देना चाहे तो हो नहीं सकता। और वास्तव में ऐसा ही व्यक्ति पूर्ण रूपेण तालीम देने के योग्य है, यद्यपि ऐसा व्यक्ति कहीं हजारों वर्षों में पैदा होता है। फिर भी उसकी कृपा से यह दूर नहीं कि किसी समय पैदा कर दे। ऐसा आदमी सब को ढूँढ़ना चाहिए, अगर मिल जाय। अन्यथा यह अवश्य है कि महात्माओं का प्रसार कुछ न कुछ जरूर होता है जब असल खयाल ईश्वरीय तत्व में शामिल हो जाता है उस समय वह बड़ी हालत पैदा हो जाती है जो ऊपर लिखी है। इससे जितने नीचे दर्जे पर खयाल लय होता है उतने ही नीचे दर्जे पर फैलाव होता है। हमारे यहाँ कुछ न कुछ फैलाव हर अभ्यासी का जरूर हो जाता है, शर्त यह है कि एतक़ाद (श्रद्धा, विश्वास) दुरुस्त हो। ऐसी बड़ी हस्ती जिसको ऊपर बयान किया है अगर कहीं मिल जाय और उसके

फैलाव और विस्तार में यदि कोई अभ्यासी अपने आपको लय कर डाले और जिस हद तक लय कर डाले, उसी हद तक उसका भी फैलाव हो जाता है।

बड़ी प्रसन्नता की बात है कि कुछ भाइयों को मुझे अपने दर्शन देने का शौक पैदा हुआ है। भाई, मैं स्वयं चलता यदि उधर से खिचाव होता, बल्कि यों कहिए कि चलने पर मजबूर हो जाता। उनका यहाँ आने के लिए हर समय स्वागत है। यहाँ जंगल छानने की शिक्षा नहीं दी जाती, बीबी बच्चों को छोड़ने के लिए नहीं कहा जाता, कोई मजबूरी ऐसी नहीं लागू की जाती जो प्रकृति की इच्छा के विरुद्ध हो। वतन का सफर करना जरूर कहा जाता है। इस विचार से यदि उनसे यह कहा जावे कि आप स्वयं यहां तशरीफ लावें तो बेजा न होगा। इत्तफाक से यदि पहुँच गया तो मुझे बताने में कुछ शर्म या परहेज नहीं। बहरहाल आपके रिश्तेदार कभी न कभी आपके पास आते ही होंगे। जब आएं तो उनको वहीं अवसर मिल सकता है और उनको आप बुला भी सकते हैं। इसका अर्थ आप यह न समझिएगा कि मुझे जाने में किसी तरह का परहेज है।

नानक नन्हा हो रहो, जैसी नन्हीं दूब।
और घास जल जायगी, दूब दूब की दूब॥

मालिक की कैंची उसी पौधे पर चलती है जो सर उठाता है। गर्दन तानना एक ऐब है और यह जब तक दूर नहीं होता, तब तक अपने तल्ले की उसको खबर नहीं होती। तल्ले से मेरा

अभिप्राय यह है कि जब यह ऐब इन्सान बिल्कुल दूर कर ले तो उसके बाद जो हालत आती है उसको इस शब्द से व्यक्त किया गया है। इस हालत में रहना शराफ़त इन्सानी (मानवीय शील) है। यही चीज जब गाढ़ी हो जाती है तो मिस्कीनी सिफत (गरीबी का गुण) के दायरे में आ जाती है। जब यह हालत बन गई तो फिर वास्तव में वह बन्दा बन्दा हो गया। ऐसी हालत बनाने के लिए सैकड़ों तबज्जह और दुआएँ की जाती हैं। इन्सान को अपने स्तर से कभी बाहर न होना चाहिए और वही स्तर उबूदियत (चरम अस्तित्व) को विकसित करता है। और बन्दे के लिये यह चीज अनिवार्य कर्तव्य है। यहीं पर जैसा कि मैंने पहले कहीं लिखा है 'अहम्' (I, मैं) से बहुत कुछ छुटकारा हो जाता है। मतलब उद्देश्य इसके बाद सिद्ध होता है, भाई! अच्छा तो यह है कि आप जो कुछ भी हैं उस सबके साथ आप उस ओर जावें। अर्थात् कोई चीज ऐसी न रहे जिसका मुंह उस ओर न फिर जावे, अर्थात् समस्त शारीरिक और आत्मिक साज सामान के साथ जो कुछ भी है इस प्रकार उसके सुपुर्द किया जावे कि आप में सिवाय याद के कोई चीज बाकी न रह जावे।

अब सवाल पैदा होता है कि यह हालत कैसे पैदा हो। भाई, वही एक चीज 'याद' (स्मृति) सब कुछ पैदा कर देती है। अगर याद मौजूद है तो समझ लीजिए कि जिसकी याद है वह आपके करीब है। यदि तेज करके समीपता थोड़ा बढ़ने दीजिए फिर देखिए कि क्या आनन्द और नशा प्रारम्भ होता है, अर्थात

यह चीज यहाँ पहुँचने के लिए कितनी जल्दी करती है। जब यह चीज उस हद तक पहुँच गई जहां से कि शुरुआत है, अर्थात् कहीं इसने उस क्षेत्र, स्तर या वृत्त को स्पर्श कर लिया तो समझ लीजिए कि यार के दरवाजे की कुन्डी खटखटाने लगे। जब उसकी समझ में आ गया कि सचमुच यह मेरा खोजने वाला और प्रेम करने वाला है तो यह नितान्त आवश्यक शर्त हो जायगी कि वह आपके निकट आजाय और उस बन्दिश को तोड़ दे जिसने मकान के अन्दर जाने से आपको रोका है। भाई करके तो देखो तब यह मालूम होगा कि यह चीज क्या है। उस समय यह हालत प्रारम्भ हो जाती है कि:—'बिन पग चले सुने बिन काना,

कर बिन कर्म करे विधि नाना"।

जब यह बात प्राप्त होने लगी तो आपने ईश्वरीय गुण प्राप्त कर लिया।

अब सिफत (सगुणता) पर पहुँचे। यूँ कहो कि धूप में आए, तो मालूम हो गया कि यह रोशनी सूरज की है इससे पहले हमको केवल अपने गुणों की खबर थी। अब आपकी तैराकी उस चीज में होने लगी जो ईश्वर के बिल्कुल बाद है। यहां तक तो आगए अब और आगे बढ़ने की खुशखबरी मिलती है। जब याद इस हद तक तरक्की कर जाती है कि उस याद का पता नहीं रहता। (याद किसकी-ईश्वर की। दुनियादारी की याद से मेरा मतलब नहीं) यहाँ पर पहुँचने से याद की शक्ल दूसरी हो जाती है, और यह उससे आगे बढ़ने पर पता चलता है। इसको खोलना समय से पूर्व होगा, इसकी खुशखबरी इस हालत पर आने

पर उस वक्त मिलेगी जब आप वहाँ जाने के लिए अपने आप प्रयत्नशील होंगे। वैसे भाई, सीधी सादी बात तो यह है कि जो कुछ हो सब उसको यानी ईश्वर को दे डालें। बुजुर्गों ने तस्लीम व रजा की हालत ही आत्म-समर्पण (Self surrender) समझा है। एक नुस्खा अब मैं लिखता हूँ:—बस 'तड़प' उस तक पहुँचने की। यदि प्रारम्भ में असल पैदा न हो तो उसकी नकल ही करे अगर पागल की कोई व्यक्ति लगातार नकल करता रहे तो अवश्य ही वह पागल हो जायेगा। इसी प्रकार उस तक पहुँचने की तड़प की इन्सान नकल ही करता रहे तो आखिर में असल होकर रहेगा।

(एक अभ्यासी को लिखा गया पत्र)

दर्द भरे आंसू

(एक अभ्यासी की सच्ची कहानी)

मेरा १४-१५ वर्ष तक का जीवन संघर्षों में व्यतीत हुआ ही था कि अचानक मुझे आसाम जाना पड़ा। यहाँ आने पर संसार की ठोकरें और प्यार ने मुझे खूब रुलाया, और खूब हंसाया। मैं संसार को देख कर सोचने लगता था, यह संसार क्या है मनुष्य कैसे चलता फिरता है, इसके अन्दर कौन बोल रहा है मृत्यु के पश्चात यह सब कहाँ चला जाता है। बस ईश्वर की याद हृदय में समा गई और सोचता रहता था ईश्वर कहाँ है किस रूप में है उसको जानने की तड़फ प्रति दिन बढ़ती ही जाती थी कि दिन रात उसकी याद में पागल रहने लगा जोरों से याद आने पर दिल को रोक नहीं सकता था एकान्त में जाकर घन्टों पड़ा पड़ा सुबक सुबक कर रोता रहता था और रोते रोते यही आवाज निकलती थी, हे ईश्वर ! कब तक आँसू बहाता रहूँगा मेरी तड़फ को देखकर तुझे दया भी नहीं आती, तड़फाने की भी हद हो गई तू दर्शन क्यों नहीं देता, यह तो मुझे विश्वास है कि तू मौजूद है अन्यथा इस संसार को कौन चलाता, किस प्रकार तड़फ तड़फ रह जाता था लिखावट में नहीं आ सकती। याद आने पर अब भी कलेजा मुँह को आ जाता है।

संसार की तरफ से वैराग्य होने लगा, कीर्तन, सतसंग में भी जाने लगा, अनेकों संत महात्माओं का सतसंग भी करने लगा, अनेको सुविख्यात महात्माओं से पत्र व्योहार भी किया जो वर्षों

तक चलता ही रहा। श्री जयदयाल जी से भी पत्र व्योहार चला स्वामी शिवानन्द जी, सुखदेवानन्द जी, बम्बई के महा मन्डलेश्वर महेश्वरानन्द जी, पथिक जी कोहिमा के पहाड़ पर एक फकीर इन सब से भी पत्र व्योहार चलता रहा तथा मथुरा-ऋषीकेश-हरद्वार बनारस-नैमिषारन्य, मंसूरी आदि स्थानों में भी गुरू बनाने के ख्याल से गया। अनेकों साधनों पर कदम रखा तीन चार सौ रुपये की पुस्तकें भी मंगाई। और अपनी समस्या उनमें ढूढ़ने लगा कि कब तक इसकी याद में आँसू बहाता रहूँगा। एक हिमालय पहाड़ के महात्मा मिले। मुझे हटयोगी क्रियाएं नोली-धोती-बस्ती-नाड़ी गति को रोक देना प्राण वायु-अपान वायु को शरीर से निकालना और प्रवेश करने की क्रियाएं भी सिखाई। एक और महात्मा जो मिले त्रिटक विन्दुध्यान आदि साधन बतलाये वह भी करने लगा कुछ समय पश्चात एक और महात्मा जी मिले उन्होंने सबसे अच्छा २१६०० जाप नित्य करने का आदेश दिया और सब कुछ छोड़ने को कहा दोपहर के १ बजे से आरम्भ करता और रात्री के १० बजे तक २१६०० जाप किसी प्रकार पूरे कर पाता था। एक पुस्तक में गायत्री मन्त्र की प्रशंसा लिखी थी सब छोड़ कर अब गायत्री मन्त्र का जाप करने लगा और कीर्तन से आकर रामायण, गीता पाठ करके ईश्वर की याद में सो जाता था। मगर नींद कहाँ आती रात्री भर तारे गिनने में और ईश्वर कहाँ है इसी उधेड़ बुन में रात्री व्यतीत हो जाती थी और प्रातः ३ बजे उठकर स्नान आदि से निवृत होकर फिर मंत्र जाप एवं पाठ आदि में लग जाता था।

एकऔर कोहिमा पहाड़ में महात्मा जी मिले उन्होंने

विष्णु भगवान का इष्ट कर लेने का आदेश दिया अब मैं विष्णु भगवान का दिन रात स्मरण करने लगा मेरी लग्न यहाँ तक बढ़ती गई कि इष्ट से हमारी बातें इस प्रकार होने लगीं जिस प्रकार एक मित्र से साक्षात बातें किया करते हैं। वह उसीरूप में साक्षात दिखाई देने लगे जिस रूप को तस्वीर में देख देख कर आँखों में दिल में समा लिया था। ईश्वर साक्षात दिखाई देने लगा यह तो नहीं कह सकता हाँ मेरी भावनाओं के अनुसार काल्पनिक चित्र बन कर मेरे सामने आ जाता था। और यह नहीं कह सकता था कि यह कोई मूर्ती है और इस प्रकार बात चीत होने लगती जैसे मैं साक्षात किसी अपने मित्र से बातें किया करता हूँ।

दुकान के ऊपर एकान्त कमरे में पूजा घर बना रखा था गेरुआ वस्त्र भी रंग रखे थे पूजा के समय स्नान के पश्चात पहन लेता था और सच्ची लग्न से जैसे आसन पर बैठता वैसे ही आँखों से आंसुओं की धार जोरों से बहने लगती थी और मैं उसकी याद में बेहाल बेहोश पड़ा रहता था कुछ समय पश्चात देखता था मुझे कोई अपने हाथों से उठा रहा है आखें खुलने पर विष्णु भगवान का वही काल्पनिक रूप दिखाई देता था। और मेरे आंसू भी पोंछने लगते थे। जब रात्री होती और मैं कीर्तन में जाता तो वह भी मेरे साथ जाते थे और सामने रखी तस्वीर में साक्षात दिखाई देते थे, मैं कीर्तन जैसा लोग करते थे वैसा नहीं करता था चुपचाप एक कोने में बैठा बैठा उसकी तरफ देखता रहता था वह मुस्कराते दिखाई देते और जब वह चलने को होते तो मुझे इशारा करते थे और हम दोनों उठकर चले आते थे।

एक दिन मैं पूजा घर में खूब रो रहा था तड़फ रहा था और कमरे में चारो तरफ उसे पुकार २ कर पागल होता जा रहा था आँसुओं की धार किस तरह बह रही थी लिखी नहीं जाती ओह हद थी तड़फने और रोने की फिर भी उस दिन विष्णु भगवान् ने दर्शन नहीं दिये तीन दिन तक उपवास किया बगैर खाये पिये उसकी याद में पड़ा रहा, मगर वह फिर भी न आये मैं एक बगीचे में गया जहां एक महात्मा जी आये हुए थे सब कहानी सुनाई। महात्मा जी ने उत्तर दिया विष्णु भगवान से अच्छे तो शंकर भगवान हैं भोले भाले हैं उन्हें इष्ट बना लो, मेरी समझ में आगया इसलिए कि अधिकतर जनता शंकर भगवान की ही पूजा करती है। मैंने शङ्कर भगवान की पूजा शुरू की दिल में बेचैनी लग्न बढ़ती ही गई दिन रात उसी की याद में रहता था और खाते पीते चलते फिरते उसी के रूप का ध्यान करता रहता था नजदीक एक विख्यात शिव मन्दिर था। बहुत सी जनता उस मन्दिर में जाती थी बड़ी भीड़ रहती थी एक दिन मैं भी गया मैं चुपचाप एक तरफ कोने में खड़ा २ पूजा का ढङ्ग देखने लगा मैं समझ न पाया एक भक्त आया घन्टा बजाया शिव लिंग पर जल चढ़ाया, चन्दन पुष्प चढ़ाये और चला आया, और वह भक्त दुकान में आकर कम तोलना झूठ बोलना शुद्ध चीजों में मिलावट करता रहता था। रात्रि के १० बजे लगभग जब वहाँ कोई न रहा मैं मन्दिर में गया और शङ्कर भगवान से कहने लगा क्या भगवान तेरी भक्ति करने का यही रास्ता है जैसा कि तुम्हारे भक्त कर गये हैं।

मगर मुझ से ऐसा न हुआ मैं प्रेम में जो दिल में आता

गाने हँसने लगता था और कीर्तन भी उन्हीं के नाम का करता था मन्दिर के एक कोने में कीर्तन में इस तरह मस्त हो जाता था कि अपने आपको भूल जाता था और रात्रि को दो भी बज जाते थे किसी दिन रात्री ही बीत जाती थी। अब मैं शिव मन्दिर में दिन में न जाकर रात्री में कीर्तन से आकर ११ बजे लगभग जाने लगा मन्दिर में चौकीदार भी रहता था मैं चौकीदार की नजरों से बचे-कर चुपचाप मन्दिर के किवाड़ खोलकर अन्दर घुसकर फिर किवाड़ बन्द करके शिव लिंग से चिपट कर बेहोश पड़ा रहता था। आँसू धार तो मन्दिर में घुसने से पहले ही आंखों से बहने लगती थी, और दिल चाहता था फूट फूट कर रो लूँ। १५-२० दिन तक तो कुछ भी ज्ञात न हुआ एक दिन शंकर भगवान ने मुझे उठाया गले से लगाया और अचानक फिर गायब हो गये मगर मुझे सब्र न हुआ मैं समझता था यह मैंने स्वप्न देख लिया मगर आँखें खुली थीं मैं खड़ा हुआ था मगर फिर भी यही समझा मैं स्वप्न देख रहा हूँ। मगर अब मैं सोंचता हूँ काल्पनिक चित्र आँखों के आगे आ जाता था।

अचानक दार्जिलिंग जाना पड़ा। एक दिन मैं मकान के ऊपर खड़ा खड़ा हिमालय पहाड़ को देख रहा था जो बर्फ से ढका हुआ था अचानक बाजार की तरफ नजर पड़ी, देखता हूँ एक महात्मा अलख अलख की आवाज लगाता हुआ आ रहा है। मैं तुरन्त मकान से नीचे उतर कर उसके नजदीक तक पहुँचा और उसको देखकर समझ लिया एक अच्छा महात्मा है देखना चाहिए कहां जाता है शाम होने को थी वह वापस जंगल को जा रहा था

जहाँ कि वह ठहरा हुआ था मैं भी उसके पीछे पीछे चला जा रहा था वह भयानक एक पहाड़ की चट्टान में घुसा, मैं भी कुछ नजदीक पहुँच गया उसने दाढ़ी मूंछ जो नकली लगा रखी थी वह उतार कर रखी एक पत्थर हटाया वहाँ पैसे गिनकर रख दिए और ऊपर से पत्थर रख दिया कपड़े बदल लिये।

एक तहमत बांध लिया और अचानक मेरी तरफ उसकी नजर पड़ी मुझे देख कर वह चौंक पड़ा और बाद में कुछ मुस्क-राया और मुझे बुलाया मैं डरता डरता चला गया इसलिए कि ऊँची चढ़ाई अब तो भाग भी नहीं सकता था नजदीक पहुँचने पर वह फिर मुस्कराया और बोला बच्चा यह मेरा असली रूप तुम्हारे सिवाय किसी ने नहीं देख पाया, मैं छिप कर रहता हूँ तू भाग्य-शाली है मालूम होता है तुम्हें ईश्वर की लगन है, मैं तुम्हें साधन बतलाऊँगा, मैं गुमसुम खड़ा था। उन्होंने कहा अन्दर चट्टान में चलो, मुझे बेहोशी होती जा रही थी और मैं बैठ गया उन्होंने मुझे दोनों हाथों से उठाना चाहा कि उनके तहमत के अन्दर से गले में पड़ा रिवालवर का कुछ हिस्सा मुझे दिखाई पड़ा मेरा होश गुम हो गया और ईश्वर को याद किया और महात्मा जी ने हाथ पकड़ कर उठा लिया तब मैं पेशाब का बहाना बना कर पेशाब करने बैठ गया।

मारे भय के ईश्वर को याद कर रहा था कि अचानक दो मलेट्री के आदमी जो दार्जिलिंग घूमने आये थे रास्ता भूल गये वह हम लोगों को देख कर रास्ता पूछने के लिये आये। उनको

देखकर मुझे होश आया और उन लोगों ने महात्मा जी से पूछा बाबा हमें सुबह के भूले हुये हैं कृपा दारजीलींग का रास्ता बतला दीजिये मैंने तुरन्त कहा चलो मैं बतलाये देता हूँ तो महात्मा जी तुरन्त कहने लगे नहीं बच्चा नहीं जायगा लेकिन मैं जबरन उनके साथ चल पड़ा और कुछ दूर जाने पर मुझे होश आया सब बातें उन्हें कह बतलाई मलेट्री वाले मेरी बातें सुन कर फिर तुरन्त वापस आये तो देखते हैं वह महात्मा रुपया पैसा सब लेकर कहीं जंगल में छिप गया। मैं उन लोगों के साथ वापस दार्जिलींग आया और घर पर आकर ४-५ घन्टे बेहोश पड़ा रहा ४-५ महीनों के बाद फिर मुझे आसाम जाना पड़ा।

आसाम आने पर एक और महात्मा जी मिले और कहा ध्रुव जी ने 'ॐ नमो भगवते वासदेवाय' मन्त्र का जाप किया था यह जाप करो किसी को यह मन्त्र बतलाना नहीं। मैं मन्त्र का भी जाप करने लगा। भक्ति का रंग बढ़ता ही गया वह तो एकाएक बढ़ता ही जा रहा था यहाँ तक बढ़ा कि एक बार कीर्तन करते २ जंगलों में जाकर उसे पुकार २ कर जीवन अन्त करने के लिये चल पड़ा। अपनी आशा निराशा की कल्पनाओं की डोर के सहारे चलता ही जा रहा था। आंखों के आगे अंधेरा छा गया। घर बार सब छोड़ दिया, केवल एकेले को ईश्वर स्मरण सहारा था संसार आँखों से ओझल हो गया। कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था मगर भाग्य कहूँ या अभाग्य, एक मित्र ने मुझे जाते हुये देख लिया था। उधर घर वाले सब परेशान थे उन्होंने मेरा भेद बतला दिया और मेरे रिश्तेदार हवाई जहाज द्वारा वहाँ पहुँच गये और मुझे

ढूँढ़ लिया और विवस कर अपने साथ ब्रह्मपुत्र के किनारे ले आये वहाँ मेरी दशा देख कर उनकी आँखों में भी आंसू आ गये। और मुझे समझाने लगे नतीजा यह हुआ कि कि वह विवस मुझे वापस ले आये।

मगर अब तो और भी समस्या उलझ गई चारों तरफ नजर दौड़ाई संसार शून्य विहंग उजाड़ सा लगने लगा और यह हाल था मारे बेचैनी के कि सोचता था मैं कहाँ आ गया यह संसार क्या है, जब रात्रि होने को होती मैं तालाब के किनारे एक बगीचे में जाकर बेहाल पड़ा यह सब सोचता रहता था। अनेकों महात्माओं की शरण ली। मगर मुझे सच्चा गुरू पथ प्रदर्शक अभी तक न मिला। जहाँ भी पता लगा अमुक स्थान पर महात्मा जी अमुक जगह से पधारे हैं, मैं फौरन ही उनकी शरण में गया कुछ समय पश्चात् दुकान के कार्यवश फिर मुझे गुहाटी (आसाम) जाना पड़ा। मैं महासिंह राय मेघराज जो वहाँ की पुरानी फर्म है, अपना माल बेचने के लिए एक महीने लगभग से ठहरा हुआ था। वहां भी महात्माओं की खोज में इधर उधर भटकता रहा और सुबह अन्धेरे ही उठ कर ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे २ टहलता जाता था और फूट २ कर खूब जोरों से रोता जाता था अपने दिल दर्द को घूंट २ अन्दर ही पिये जा रहा था मेरे हृदय में एक उफान उठ रहा था। आँसू शब्द के साथ बह रहे थे कण्ठ रुक २ जाता था और बीच २ में यही आवाज निकलती थी हे भगवान कब तक आँसू बहाता रहूंगा। आँख हद हो गई तड़फाने की भी कब तक तड़फता रहूँगा। क्या इस से भी बढ़कर कोई तड़फ होती है। सुबक २ कर

रोने के पश्चात् दुकान पर आ जाता, श्री महासिंह राय मेघराज के मैनेजर से काफी दोस्ती हो गई थी उन्होंने कई अच्छे महात्माओं का पता बतलाया मैं गया भी मगर मेरा दिल संतुष्ट न हुआ काफी बनावटी महात्माओं से ठोकरें खा चुका था मैं महात्माओं की खोज में शिलांग पहाड़ पर चला गया और चेरापूंजी के रास्ते में उसे पुकारता पुकारता दूर सुनसान भयंकर जंगल में निकल गया वहाँ एक झरने के पास खड़ा होकर अपने जीवन का एक एक शब्द पढ़ना चाहता था मगर कुछ भी पढ़ न सका आँखों से टप टप आँसू बहते जा रहे थे और मैं पागलपन में चलता ही गया यहाँ तक कि एक गहन बन में एक महात्माजी पर नजर पड़ी मैं धीरे २ वहाँ तक पहुँचा प्रणाम किया और उनके चरणों में गिर पड़ा जैसे कोई बेहोश मानव अचानक गिर पड़ता है फूट फूट कर रोने लगा मेरी सुबकियाँ रुक न पाती थीं मैं चरणों में पड़ा रहा महात्माजी का चेहरा चमचमा रहा था बिजली की भांति उनके चेहरे पर तेज था उन्होंने मुझे पुचकारा और उठाकर हृदय से लगा लिया और पूछा बेटा क्या दुःख है इस भयानक जंगल में क्यों भटक रहे हो अभी तो तुम्हारा बहुत सा कर्त्तव्य बाकी है तुम अपने घर जाओ ईश्वर सब जगह है तुम्हारे माँ बाप दुःखी होंगे। मैं मौन था बेहाल था, मैंने कहा भगवन अब मैं आपकी शरण में हूँ, अब कहीं नहीं जाऊँगा मुझे संसार अच्छा नहीं लग रहा है, मेरा जीवन आप के चरणों में है। महात्मा जी ने समझाया और कहा मैं तुम्हारी सब दशाओं से परिचित हूं ईश्वर तुम्हारी मदद करे और मेरा बचन है तुम्हें सच्चा गुरू एक गृहस्थी में ही मिलेगा और वही

तुम्हारा पथ-प्रदर्शक होगा वह तुम्हें शीघ्र मिलेगा पाकर भी भूल न जाना वह मुझसे भी अच्छा रास्ता दिखाने वाला होगा। जाओ बेटा रात होने वाली है यहां जंगल में रहना अच्छा नहीं। मैं गुम शुम था, मैं नशे में था, चल पड़ा और रास्ते में हाय भगवान तू कहां है कहता हुआ वापस आ रहा था मुझे यह भी पता नहीं कि मैं चल रहा हूं या कहाँ हूं कहाँ नहीं, मैं वापस शिलांग आया रात्री अधिक हो चुकी थी शहर में जाने लगा एक पुलिस वाले ने आवारा समझ कर पकड़ कर दो तीन डंडे मारे और मुझे शहर में न जाने दिया। मैंरात्री में वहीं पड़ा रहा नींद कहाँ आती कभी तकदीर की तरफ नजर दौड़ती कभी यही याद आता ईश्वर तू कहाँ है दर्शन क्यों नहीं देता सुबह होते ही उस महात्मा जी की फिर याद आई और फिर वहीं जा पहुँचा। मगर सब जंगल ढूढ़ लिया वह महात्मा जी नहीं मिले मैं वृक्षों से चिपट चिपट कर वृक्षों की टहनियाँ गालों से लगा लगा कर रह जाता था और पूछता जाता था मेरा ईश्वर कहां है हाय ईश्वर क्यों मुझे तड़फा तड़फा कर तू मजा ले रहा है तू कहाँ है क्यों नहीं दर्शन देता रोता जाता था गाता जाता था और कभी मौन खड़ा रह जाता था वृक्षों की टहनियाँ गालों से लगाते ही रोम रोम में प्रेम बढ़ता था और एकाएक आँसू धार अपने आप वेग से बहने लगती थी आखिर ईश्वर तू कहाँ है हाय ईश्वर तू कहाँ है पागलों की भांति कहता हुआ वापस गुहाटी आ गया और कुछ भी अच्छा न लग रहा था मैं दिन भर मौन चुपचाप न किसी से बातें ही करता था न बाजार में ही जाता था निराश गुमशुम रहता था मैं शीघ्र ही वापस तिन-

सुकिया चला आया तो मुझे एक पत्र श्रद्धेय बाबू जी का प्राप्त हुआ। लिखा था भाई तुमने ईश्वर को जङ्गलों में ही समझा है, इसके मतलब ईश्वर सीमित है जो एक जगह जंगलों में ही घर बनाकर रहता है। सर्वव्यापक नहीं हैं। अगर सर्वव्यापक होता तो वह घर के कोने में भी होता। जब घर के कोने में भी है तो जङ्गलों में अपने कर्तव्य को ठोकर मारकर क्यों जाते। इस प्रकार का पत्र पढ़कर दिल गुम होगया और पत्र में लिखे शब्दों ने दिल में घर कर लिया। दूसरे ही दिन मैं शाहजहाँपुर के लिए चल पड़ा और श्रद्धेय श्री बाबू जी के दर्शन हुये। आँखों ने उस महान की महानता को न निरख पाया चुपचाप बेहोशी दशा में कमरे में पड़ा २ यह विचार करता था कि मैं धोखे में तो नहीं हूँ मगर उनके स्नेह निस्वार्थ प्यार ने मेरी आँखें खोल दीं और शिलाँग वाले महात्माजी का शब्द स्मरण हो आया मैं चरणों में गिर पड़ा और फूट २ कर मैं रो रहा था। मुझे अभ्यास बतलाया और अभ्यास आरम्भ कर दिया। अभ्यास द्वारा जो कुछ अनुभव हुआ किन शब्दों में बतलाऊँ? किसी प्रकार बतलाया नहीं जा सकता, अपना जीवन सदैव के लिए चरणों में अर्पित कर दिया।

× × ×

कमजोर मनुष्य की सहायता ईश्वर भी नहीं करता। कमजोर कौन है? केवल वह जिसे अपने ऊपर भरोसा न हो।

प्रार्थना

(ईश्वर सहाय)

उपासना का खास अङ्ग प्रार्थना है। कोई मजहब इससे खाली नहीं है। इसकी महत्ता हर जगह बताई जाती है। यह इन्सानी फर्ज भी है और कामयाबी की कुँजी भी है। हमारे यहाँ की कुल साधना में यह चीज पूरे तौर से समाई हुई है। प्रार्थना का अर्थ यह है कि हम लाचारी और मजबूरी की दशा का अनुभव करते हुए उस मालिक (प्रभु) के कुल से उसकी कृपा और सहायता की भिक्षा माँगते हैं। यद्यपि कि प्रार्थना के लिए कोई खास समय नियुक्त किया जा सकता है फिर भी रात के समय सोने से पहले का समय प्रार्थना के लिये ज्यादा उपयोगी है। इस समय हम हर काम से छुट्टी पाये हुए होते हैं और हर प्रकार के झंझटों से बहुत कुछ मुक्त होते हैं। वैसे प्रार्थना हर समय की जा सकती है। जब इस प्रकार की तबियत बन जाये और अगर स्वयं न बने तो फिर अपने आप बना ले।

एक बात यह भी जान लेना आवश्यक है कि प्रार्थना किस विधि से करना उचित है। साधारणतः प्रार्थना उन देवी देवताओं से ही की जाती है जो उस प्रकार काम के लिये नियुक्त माने गये हैं। यही तरीका आमतौर पर प्रचलित है परन्तु इस सम्बन्ध में मैं अपने गुरू महाराज द्वारा लिखित पुस्तक "सहज मार्ग के दस वसूलों की सरह का एक दृष्टान्त देता हूँ जहाँ उन्होंने लिखा है कि"

गुलामों से प्रार्थना करना मैं उचित नहीं समझता अर्थात् उन शक्तियों से जो मनुष्य के आधीन हैं और जिनको मनुष्य से ही शक्ति मिलती है" इससे पता चलता है कि इन छोटी शक्तियों अर्थात देवी देवताओं जो कि प्रकृति के कारखाने में मशीन के भिन्न २ पुर्जों के समान हैं उनसे प्रार्थना करना मूर्खता है। प्रार्थना केवल उसी से करना चाहिये जो सबसे बड़ा मालिक है और मालिक कहाने योग्य है।

किन बातों के लिए प्रार्थना करना उचित है। आम तौर पर प्रार्थना का केन्द्र केवल वही बातें होती हैं जिनका सम्बन्ध हमारे दुख सुख से है कोई रुपये के लिये प्रार्थना करता है तो कोई औलाद के लिये। कोई नाम इज्जत इत्यादि के लिये। कारण यह है कि हमारी दृष्टि में केवल वही बातें जमी हुई हैं जो हमें शारीरिक आराम पहुँचाती हैं। इस प्रकार से प्रार्थना केवल इच्छाओं की पूर्ति के लिये की जाती है। इससे परे निगाह ही नहीं जाती। परिणाम यह होता है कि संसारी सुख दुख के जाल में फँसे हुए कुएं में गोते लगाया करते हैं। शारीरिक सुख दुख आने जाने वाली चीजें हैं और हमारी इच्छाओं की भी कोई हद नहीं इसलिये इन चीजों को अधिक महत्व देना फँसाव की सूरत पैदा कर देना हैं जिससे संस्कारों का जाल और भी घना होता चला जाता है। जब हम इतने बड़े मालिक से प्रार्थना करने के लिये बैठते हैं तो उचित है कि उससे वैसी ही महत्व पूर्ण वस्तु मागे। यदि किसी राजा के पास कोई माँगने के लिये जावे और मांगे उससे एक पैसा तो यह कहाँ तक ठीक हो सकता है इसलिये

उचित यही है कि जब हम उस बड़े मालिक से प्रार्थना करें तो उन्हीं बातों के लिये जो हमारे अन्तिम ध्येय की प्राप्ति में सहायक हों। हमारे यहाँ इस छोटी सी प्रार्थना पर बहुत जोर दिया गया है और जो हर अभ्यासी के लिये अनिवार्य है।

हे नाथ तू ही मनुष्य जीवन का ध्येय है।
हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक हैं।
तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।

इस छोटी सी प्रार्थना में जीवन की कुल समस्याओं का हल मौजूद है और यही एक ऐसी चीज है जो इतने बड़े मालिक से माँगने योग्य है। अब संसारिक स्वार्थ के लिये प्रार्थना करना कहाँ तक उचित है। इस विषय में यह कहना है संसारिक स्वार्थ दो प्रकार के होते हैं एक तो वह जो हमारे संसारिक जीवन के लिए आवश्यक हैं और दूसरे वह जिनका सम्बन्ध हमारी इच्छाओं से है। मुख्य आवश्कताओं के लिये यदि जरूरत पड़े तो प्रार्थना करने में हर्ज नहीं है क्योंकि इसके बिना कर्तव्य पालन में कमी रह जाने की सम्भावना हो सकती है। परन्तु अपनी ऐश और आराम के लिए इच्छाओं की पूर्ति हेतु प्रार्थना करना गलती है।

अब यह आवश्यक है कि प्रार्थना किस ढंग से करना चाहिए। साधारणतयः प्रार्थना का ढंग यही रखा जाता है कि जिस देवी देवता से प्रार्थना की जाती है उसकी तारीफें करते हुये अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये बार २ कहते रहें और वही शब्द

लगातार सौ बार हजार बार या इससे भी ज्यादा दोहरावें। मतलब यह है कि जितनी ज्यादा बार कहा जायेगा उतनी ही जोर दार प्रार्थना समझी जाती है। यह गलत है। प्रार्थना का सही ढंग यह है कि हम उस बड़े मालिक के सामने अत्यन्त दीनता के साथ एक भिखारी के समान अपनी दुखी दशा का नक्शा पेश करते हुये उसकी कृपा और अनुग्रह के इच्छुक के रूप में अपने आपको उसकी मर्जी के आधार पर छोड़ दें। जिस बात के लिये प्रार्थना करने बैठे हैं उसको दो चार बार मन में कहते हुये उसके सामने रख दें और फिर उसी ख्याल में लीन हो जाये। इस ढंग से कि शब्द बिलकुल गायब हो जाये केवल ख्याल ही बाकी रह जाये फिर इसमें और ज्यादा गहरे जाने की कोशिश करे और वह ख्याल भी गायब हो जाये। केवल एक सूक्ष्म ध्यान रह जाये। होते २ इस दशा पर आइये कि यह भी पता न रहे कि हम किस लिए बैठे थे। अलबत्ता इस दशा में वह ख्याल उसके अवचेतन मन में अवश्य स्थापित रहेगा जो कि बीज का काम करेगा।

इसका रहस्य यह है कि जब हम किसी बात के लिए प्रार्थना करने बैठते हैं तो उस पर ध्यान मग्न उस दशा पर पहुँच जाते हैं जो इससे अधिक सूक्ष्म है। अर्थात् हम गहराई में घुसना शुरू कर देते हैं। जब ख्याल की ठोसता भी जाती रहती है तो हम उस और भी सूक्ष्म दशा पर पहुँच जाते हैं जहाँ पर उस काम के बनाने के लिये कम्पन शुरू हो जाता है। जब हम और गहरे जाते हैं तो हम उस शक्ति से आलिंगन हो जाते हैं जो उस कम्पन का कारण है। वहाँ पर ठहराव की दशा पैदा हो जाने पर उसको

यह पता भी नहीं रहता कि जहाँ उसका ख्याल ठहरा था ठीक ढंग से अभ्यास करने पर यह बात असानी से प्राप्त हो जाती है। असल बात यह है कि जब हम ईश्वर को इतना महान मान लेते हैं तो हमारे अन्दर दीनता और नम्रता पैदा हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि थोड़ी देर के लिए हम झंझटों से अलग हो जाते हैं। ऐसी दशा में हमारी अध्यात्मिक शक्ति काम करना शुरू कर जाती है। जितना हम और मिटते चले जाते हैं शक्ति उतनी ही तेज होती चली जाती है। अन्त में वह पूर्ण रूप से काम करने लगती है और जो बात हम चाहते हैं उसके करने वाले हम स्वयं ही बन जाते हैं और हमारी ही ताकत काम करने लगती है।

वैराग्य

(कुमारी पुष्पा रानी सक्सेना)

[गतांक का शेष]

भगवान ही हमारे सन्निकट हैं। वह सदैव हमारे हृदय रूपी मन्दिर में ही रहते हैं। प्रश्न यह उठता है कि जब वह हमेशा हमारे हृदय में ही रहते हैं फिर दिखाई क्यों नहीं पड़ते ? जिसका उत्तर इस प्रकार है-जब सम्पूर्ण शरीर पूर्णरूप से निर्विकारी हो जायगा, हृदय कालिमा, स्थूलता तथा कठोरता से रहित हो जायगा एवं जब मानव शरीर में सद्विचारों का प्रादुर्भाव होने लगेगा, करुणा की धारा प्रवाहित होने लगेगी और द्वैत की भावना मिट जायगी तभी हमें उस अविनाशी प्रभु के दर्शन होंगे।

ज्ञानी पुरुष को माया चाहें जितना अपनी ओर आकर्षित करे किन्तु वह उस ओर ध्यान नहीं देते। जिस प्रकार से मेघों के आकाश में छा जाने पर भी आकाश को अपने रंग में नहीं रंग सकते, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष को सांसारिक भोग वासनाएँ अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकती। जिस प्रकार तेज वायु के चलने से पर्वत नहीं हिलते उसी प्रकार बार बार भोग समूहों के आक्रमण करने पर भी वैरागी पुरुष विचलित नहीं होते। क्योंकि—

धन जीवन सुख सम्पदा बादर की सी छांह।
सहजो आखिर धूप है, चौरासी के मांह॥

वह जानते हैं कि यह माया क्षणिक है जिस समय काल अपना विकराल रूप लेकर सामने आजायेगा, उस समय सिवाय उस परमपिता परमात्मा के और कोई साथ नहीं देगा। यह धन दौलत माया, ममता तो मृत्योपरान्त जहाँ की तहाँ रह जायगी अपने कहलाने वाले भाई बंधु भी सब यहीं रह जाएंगे, फिर इस अजर अमर अविनाशी आत्मा को माया के बन्धन में जकड़ कर क्यों कलुषित किया जाय?

एक उच्चकोटि के महात्मा के दर्शन को एक सेठ जी गए सेठ जी ने चरण स्पर्श के बाद महात्मा जी की वन्दना करते हुए प्रश्न किया कि महाराज आप कितने दयावान सुशील करुणा के सागर तथा ईश्वर निष्ट और पापरहित हैं? हमारा जीवन ऐसा क्यों नहीं है! उन्होंने कहा यह सब बाद को पूछना, पहले तुम अपनी सुनों तुम्हारी मृत्यु के केवल सात दिन ही बाकी रह गए हैं।

सेठ जी महात्मा जी की कही हुई बात को झूठ कैसे मानते? जल्दी से घर पहुँचे कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करें। बीमार होकर चारपाई से लग गए। छः दिन व्यतीत हो गए। सातवें दिन वही महात्मा जी सेठ जी से मिलने आए महात्मा जी ने पूछा, "कहिए सेठ जी क्या हाल है?" बस अब चलने की तैयारी है। महात्मा जी ने फिर पूछा 'इस छः दिनों में कितने पाप किए?" आसन्नमरण सेठ जी ने उत्तर दिया 'महात्मन् पाप करने की तो फुर्सत ही नहीं मिली, मौत एक सी सामने खड़ी थी। बस घन्टे गिन रहा था महात्मा जी ने कहा हमारा जीवन इतना निष्पाप क्यों है इसका उत्तर अब मिल गया न? मरण रूपी शेर सदैव सामने खड़ा रहे, तो फिर पाप सूझेगा किसे? पाप करने के लिए भी निश्चितता चाहिए। मरण का सदैव स्मरण रखना पापों से मुक्त होने का उपाय है।

ऐसे बहुत से गृहस्थ हो गए हैं जिन्होंने राज्य का संचालन सुचारु रूप से करते हुए वैराग्य प्राप्त कर लिया। उदाहरणार्थ राजा जनक को ले लीजिए सशरीर होते हुए भी उन्हें विदेह कहा जाता था। जिनके पास श्री व्यास जी ने अपने लड़के विरक्त शिरोमणि श्री शुक देव जी को ज्ञान प्राप्ति के हेतु भेजा था। जब शुकदेव जी जनक के भवन में पहुँचे तो जनक जी ने उनसे पूछा "कैसे आए" शुकदेव जी ने उत्तर दिया 'ज्ञान प्राप्त करने के लिए।' यहाँ आते हुए बाजार में तुमने क्या २ देखा? यहाँ चारो तरफ शकर की सजी हुई मिठाई दिखाई दी'। और क्या देखा,? चलते बोलते शकर के पुतले देखे' 'फिर क्या देखा'? यहाँ आते हुए शकर की सख्त

सीढ़ियाँ मिलीं'। फिर क्या मिला ? 'शकर के चित्र यहाँ भी सर्वत्र देखे'। अब क्या देख रहे हो' ? जनक जी ने अन्तिम प्रश्न किया 'शकर का एक पुतला शकर के दूसरे पुतले से बात कर रहा है'। श्री शुकदेव जी ने प्रत्युत्तर दिया। जनक जी ने कहा जाओ तुम्हें ज्ञान मिल गया। यही है ज्ञान की अन्तिम सीमा। हमारे समर्थ गुरू 'महात्मा श्री रामचन्द्र जी महाराज' फतेहगढ़ ने बहुत सरल स्पष्ट शब्दों में कहा है मानव को चाहिए कि वह अपने हृदय रूपी मन्दिर में केवल एक बुत को जगह दे और उसमें इतना ध्यान मग्न हो जाय कि उसे संसार की सुधि ही न रहे। अन्त में ध्यान की अवस्था इतनी गहरी हो जाए कि वह बुत भी याद न आवे। बस यही आखिरी मंजिल है। किसी ने कहा है—

दो नैनों का यही संदेश'
यह भी देख कुछ वह भी देख।
देखत-देखत इतना देख'
मिट जाय दुविधा रह जाय एक ॥

× × ×

गीता का कथन है कि मुझे जो जिस रूप में पूजता है वह मुझे उसी रूप में पाता है। परन्तु साधारणतः लोग उसे किसी रूप में भी नहीं पूजते। वे केवल रूप को ही पूजते हैं। इसीलिए लाभ कुछ नहीं होता। यही त्रुटि रहती है।

Gita

(Shri Ram Chandra President)

The simple unassuming character of mind changed with the march of time into a colourful disposition and began to shed its effect on every thing in us both outer and inner. Whatever therefore we took into our thought or action exhibited colourfulness in all its phases. Our excessive attachment to the environments and surroundings of the similar character created in us heaviness and grossness. Subtleness was lost. Every thing that came to our view was interpreted in the same light. This created not only veils over our understanding but the heart and brain also took over the same effect. Whatever we preached or gave out in writings had therefore the same trend of thought. It was the same tendency of mind which exhibited itself through all the numerous commentries written by men of learning. What rightly ought to have been is that one must have practically attained the state of mind required for the thorough understanding of things before he came out to explain it to others. The same was the case with our sacred Gita. There are numerous commentries and more are still being added. Almost every one attemp-

ted it from the level of learning and reason for the people to understand it from the same point of view. But though their pains in this respect are to be appreciated to some extent. Still the actual purpose was not served at all and to be more frank the commentaries made the original text all the more difficult by putting the bare truth under coverings of misconceptions. In other words we increased our own limitations adding more and more complexities to it.

Similar is the case with the worship of God who is represented as physically similar to man with the only difference that He is a superior being, our sphere being the narrowar while His the bigger, in proportion to his bigness. But not taking up that topic at present I confine myself the subject proper.

It was in accordance with the need of the time that Lord-Krishna had taught the truth of Gita to Arjune. We must be highly indebted to him for all that he put forth for our benefit, which in course of time became the guiding light to us all. It was not merely an idle discourse but the actual revealation of the very things, needed for a true pursuer of the Divine path. They relate directly to the various conditions

which an Abhyasi passes through during the course of Abhyas. It relates to the practical realisation of those states which can be attained by proper Sadhana. There may however be elevated souls present in the world today who may be able to give you a glimpse of it or to create at last for an instant the same state in you.

Let us here consider how much time would Lord Krishna have possibly required for giving out the Gita. The armies were standing face to face on the battle field and the war trumpets were resounding louoannouncing the zero hour for action. How much time was there at the disposal of Lord Krishna to bring Arjuna round to the proper course. The recitation of Gita, as it stands today and as it is presmed to have been given out at the time requires at least a few hours for it. How could that be possible at that critical time? Evidently he could not have taken more than a few minutes for it. The fact is that Lord Krishna had actually transmitted to him within a few minutes all those mental states necessary for the purpose at the time. They were really those very conditions which a Abhyasi has to pass through during the course of his march. This process brought him instantly to a higher state of spiritual consciousness and purged out

feeling of attachment from his heart. This can be possible today as well. But, as it is too commonly witnessed, people hear and recite Gita for the whole life without taking in the least effect of it. None has ever so far become like Arjuna by hearing the Gita for years together. The reason is that those who recite it to others are not inwardly as they really ought to be; on account of which no effect is produced upon the hearers, The reciter must have a practical approach upto the conditions related therein and should possess a strong will and the spiritual force necessary for making his voice vibrant so as to carry the effect of the sound right to the hearts of the hearers through the process of transmission. Then alone can its recitation be useful to the hearers.

As for the teachings of the Gita we are ever being told by teachers and preachers of high ranks and standing reputation that one should never consider himself to be the actual doer of things. But at the same time it is quite evident that mere reading or hearing of it is of no avail unless we take up means to achieve it practically. But we are always into dark about those means which are necessary for the purpose. Never a slighhint to that effect is to be traced out in all their learned discourses. The result is that the hearers

are wrongly led to the conclusion that only the frequent repetition of the words. I am not the doer, is all and enough for them. It is in fact an inner state of mind in which the physical actions of the Abhyasi do not form impressions. When impressions are not caused, the Sanskaras are not formed and consequently chances for Bhoga do not arise. The formati of Sanskars is thus stopped. This is quite essential for those on the spiritual path. This was in fact the actual state which was transmitted into Arjuna and by the effect of which he atonce came up to that level of higher consciousness. The oral expression given at the time constituted of mere brief hints to illustrate the condition acquire by Arjuna through transmission.

The state of Atman described in the Gita is a further clarification of the same point. When one has practically attained that state he begins to feel the same all through. That is in fact the actual state of realisation. Great stress is laid in the Gita upon Nishkama karma (or desireless actions). One may go on saying like that for ever still it may never crop up within him unless he adopts means and practices which may be the very basis of it. This is in fact a kind of Layavastha (state of merging) without which the vision

of the Virat can never be possible, though proper capacity and advanced insight on the part of the Abhyasi is also essential for the purpose. On witnessing the scene of Virat, even Arjuna cried out that he could not bear to see that dreadful sight. The reason was that the Layavastha which had been transmitted to him related only to the conditions of the Virat Desh, while the scene witnessed by him was the display of the full force of the Brahmand Mandal which is for beyond normal capacity of a common man. This is the sphere wherefrom every thing comes down into the material plan. The entire plan of the battle of Manabharat was previously laid out there in an astral form. It was this vision that Lord Krishna brought to Arjuna's view after pulling him up to that level. Some people may not however feel induces to believe it as it is and they might have their own reasons for it. But I may assure them that though normally it stands waiting in practical proof yet it is quite possible and practicable even today provided that there be on of such a high calibre and the Sadhak too who might be will capable of being lifted upto that level.

The Gita also emphesises the importance of Duty which constitutes the very basis of the social order. It falls within the scope of Rajyoga

and it immensely helpful in bringing about the cessation of Sanskaras, though it may be rare indeed, The state commences when all senses are silenced. Mere saying or hearing is of no avail in this respect. It is only to be practised and for it a broader heart is required. It is not so easily attainable in a brief span of time persistant labour with proper means is essential for it. It is likely that people may not pay heed to what I say herein but soon the Reality which has, due to the effect of time, got covered with complexities shall be unmasked and the people shall begin to realise its true significance. May the time come soon. Amem.

× × ×

Thoughtless-ness refers to the silencing of the mind-waves which lead to the creation of thoughts. It is not suppression or suspension of thought. For stopping the rising of waves in the mind-lake. we do not exercise our will but we only clean the field for it. 'Chit Viritti Nirodha' Really refers to the stopping of the waves in the mind-lake.

Emotional Integration of India

(S. C. Srivastava, M. A.)

To talk of emotional integration in our country to day has been so fashionable among the intelligentia as cricket among the school boys and literature and nuclear energy among the arm chair politicians of a coffee house. Committees and conferences are organised. Editorials and letters appear. But the matter seems to be more confused than before.

Our country men can be divided into three groups according to their reactions to this problem. First are those who think about it with their heads covered with coloured caps of their organisations. Second are those who listen to all this hue and cry with the same detachment with which they learn the crises in Algeria or North pole. While the men with coloured caps flume themselves as unacknowledged guardians and Lord protector of the world, the other, to keep the balance donot hesitate to offer themselves upto their guidance. But beteen the two there is a stratum of some sensible persons who view the issue with concern without any bias. And it is this appr.ach which I want to present in this article.

Those who would have read the much screened and filtered reports of these conferences in the newspapers would have been pained to see the attitude of the members and the spirit in which they express their views. They lose sight of the main issue before them and start flinging mud at one another. They forget that they assemble to forge the unity of this great nation.

They forget that in doing so they are varving the future of the world. They forget the great role that our contry is playing and will play in this warring world. And ultimately they forget that they are not fulfilling the great responsibility that their countrymen have placed upon their shoulders which they have willingly undertaken. They appear to be so much trammelled by their party interests that they cannot dare come on. and see things in the proper light They appear to be too weak to accomplish this mighty task.

Let us ask ourselves frankly and boldly—Does our country really lack emotional integration ? Are we prepared to say that people South of Vindhyachal are not Indians or vice verse ? Can we afford to say that the people of South have nothing in North with which they can be emotionally attached to?

Certainly there cannot be any other answer except a denial. It proves that there are ties other than the political and the economic which hold people of this great notion together. Then why these widely popularised Integration Committees and conferences end in fiasco? The answer is simple. These leaders, the mighty workers for national unity find it and use it as the fittest possible platform where they can give vent to their most venomous invective against their opponents. Peculiarly enough the conferences prove to be emotionally disintegrating.

Besides their narrow party views they fail to understand the true nature of the problem. They want to remove all possible differences and to introduce one way of thinking for all problens. The members of par-

ty in power want to champion their way of approach as the only panacea for the whole trouble which naturally awakens the spirit of other parties to support their own view points.

If we look to the common man of our country we will find him a more sincere lover of country than the bragging politicians. Long before Gandhi and movement for national independence there had been unity lying dumb and inactive in the heart of our country. There was lack of common language which hindered a joint effort of leading men to come and confer together. With the advent of Vivekanand, Tilak, Gandhi and Tagore in the life of our country, the latant unity was aroused and the whole country stood up as a powerful man whose power compelled the white rulers to retrace their steps seven seas back.

The Britishers left the dragon seeds of supremacy of politics in our life. As the tricolour went up on a house divided, the leaders of our portion started to scramble for power over its sub divisions. Forgetting the sense of great sacrifice which had brought them this unique honour, they fought for the booty and those who failed, tried to create discontent to have there separate share.

Behind the veil of a healthy democracy, the role of politicians in our country has been to perpetuate feelings of separatism and self interest. They tried to forget the major national problems and through their efforts they succeeded to create enough spleen and discontent to root out the age long sense of unity of this country.

These political leaders commit the greatest mistake when they fail to understand the nature of our country. They think that political and economic aspect of life the chief concern of our people. But this is their stumbling block. Vivekanand, Tilak and Gandhi won their way to the heart of people not through their social, political or economic programme, but through their saintliness. A villager followed, Mahatma Ji more than, Mohan Das Karam Chand Gandhi. His picture as clad in one cloth with a stick in his hand and bare chappals in his feet suited ideally to the traditional image of saints in the Indian heart. An Indian, like any simple and sincere person of the world, is a hero-worshipper at heart. Give him a leader of his beliefs and ideals and he will be ready to follow him heart and soul. Gandhiji touched that core of Indian heart and won a place there whereno controversy can ever prevail and that is the reverence for the saints like Tukaram, Kabir, Nanak, Chaitanya and Tulsidas. Gandhiji became an emotional institution like the four places of pilgrimage of our country.

To our young readers this might sound a little lyrical and hyperbolical in post-Gandhian are because as Shelley, the poet used to criticise the Chirstians the neo-Gandhi-ites have actualy killed and buried Gandhi But those who had the chance to live in those days when Sevagram had become the mind and heart of India, might well remember what a magic he was. There was hypnotism in his name. Later on his followers could not keep up that tradition. They could not play the tune which Gandhiji had played listening to which our united country raised up its angry hood to bite the ruling country to death. (to continue)

Surrender

(Shri Ishwar Sahai)

The most vital factor of the Sahajmarga sadhana is surrender. It is in fact the sum total of Upasana. Any thing that an Abhyasi does by may of Sadhana has the same underlying purpose at its back. The common purpose of almost every Sadhana is defined as Realisation, which may be taken to mean merging in God. It implies an idea of negation. In other words the negation of our individual self is the Realisation in the true sense.

But what does the term negation imply ? For an Explanation of this we must trace out the whole course of man's evolution. The primal state of man's existence was in the form of an individual identity a state of super-finest subtleness, pure and Simple. From that subtlest state man proceeded down towards grosser form of existance, taking on layers after layers of opacity, settled round it in the form of coverings. The grossness went on growing denser and denser till finally man assumed the present form of opaque solidity. With the awakening of the Divine consciousness in the heart the course is

reversed and the downward march changes into ascent towards the origin. We came down gathering, swelling and expanding physically now we go up reducing, shrinking and contrating materially. The former course has resulted in the building up of a formidable Ego, wholly merged in physical consciousness. The latter process now serves to relieve us from egoistic consciousuess and leads us on through Divine consciousness to the point of origin. That is in a word the whole story of the man's existance.

How do we now proceed through it ? Our march towards the Ultimate commences with an honest recognition of the greatness of the Divine Master. we link ourself with Him through love and devotion— a devotion in the real sense and not in the form of assumed flattery. This promotes faith which strengthens the link all the more. Submission and resignation follow in the natural course which may be treated as preliminary step for Surrender.

There may be several steps which we have to pass through one after the other during our march towards Surrender. We start with submission abiding by the will of the Great Master in all our daily affairs. In a way we begin to resign every thing to Him. But resig-

nation dœs not apply only to uncontrolable results, which are forced upon us by circumstances. That may only be by way of consolation in cases of dispare, where we are compelled to take up that view. In the real sense resignation covers the entire course of man's efforts. from the beginning to the end. Resignation proceeds with dedication. We dedicate all our thoughts and actions to him and proceed on with our affairs in a spirit of Divine Duty. The easiest elementary method for the beginners. prescribed by our Master is as follows:—

"A man begins his work dedicating every thing to his Master. He starts with the idea that he does every thing for the Master or the Master within him, is himself doing that. He gives life to his supposition and the object becomes animate. He starts with his day's work, attends to morning ablution and takes his breakfast thinking that his Master is doing all that, He goes to the office or attainds his day's routine of work thinking that his Master in him is doing that. In the evening he returns from the office. On the way he finds an attractive dance going on. His eyes are caught by the charm and he can not check himself from it. What he is to do then ? He should think that it is not he, but

the Master in him who is witnessing the dance. The Master's power will atonce begin to flow in him and he will be relieved of the temptation. He comes home after finishing his day's work. He finds his children rejoicing at having him again in their midst after so many hours. He also enjoys their merriments and that is but natural. Thus for the time he finds himself away from the sacred thought of the Master. But that is not the case if the thought that the master in him is himself enjoying their merriments is there. Now friends come to chat with you also drop into conversation with them, just think that the Master within is talking with them. Similarly you can adjust yourself in all your daily routine of work. While walking you can think that the Master himself is walking and at the same time remain in the thought of the Master as well. That means you are going on with double force. While meditating think that the Master himself is meditating on his own form. This is of putmost importance and the very key of success."

The process if followed earnestly will have one immensely in stopping further formation of Samaskaras. This we try to cultivate by our efforts. But so long as our effort is there it is

only formal and physical, though inorder to start with, we have to take it up in that way, with will and faith of course. By contined practice it turns into habit and in course of time it becomes automatic spontaneous and natural. The conscious feeling of submission, dedication or resignation fall in the back ground, and only the Divine consciousness remains active all through. The individual will identifies itself with the Divine will and the Divine becomes prominent in all our being. In this way we proceed on with surrender giving up all our belongings bit by bit. In my Master's words we have but to vacumise ourself so that the Divine current may go on flowing into us we do it by the above means. By and by the gigantic Ego begins to melt away yielding place to the Divine. The transformation thus goes on and in course of time the entire system becomes divinised.

Surrender involves the idea of giving up all that we possess as our belongings, to the Divine Master, having no concern with them at all. But if one knows that he has surrendered, he has realy not, in the true sense. Moreover direct efforts for practising surrender, do not bring forth genuine results. We have therefore to adopt such ways and means as may and result

in promoting the feeling in us. Meditation supplemented by constant rememberance is the only best and the surest means for it. Meditation in itself is realy a process for dissolving things of our own creation. But it is so only when it is directly associated with the divine thought and the divine purpose. In meditation we try to gather ourselves on one point — the Divine, ignoring all the rest. In course of time when we become closely attached to it, they begin to fade away from our mind and we are thus relieved of what we possessed. It may be of great value to add here my Master's view over the point:—

"The conscious idea of surrender entails with it the growth of ego-consciousness also. The abesnce of the idea means extension of Surrender. Now the question is what measures should be adopted for the purpose. If we are able to cultivate surrender by means of our Abhyas and the Master's grace, so much the better. The Master's power helps the Abhyasi till the flow of Divine Grace is not directed towards him. When that is done his responsiblity is considerably reduced, though not totally ended. People crave so much for the Divine Grace and it is but right too, for it is

needed every moment. But they do not realise that at initial steps it comes to them through the medium of the Master alone. But how to invite it is not commonly revealed. It can in fact be revealed only by one who has it or rather one who is dissolved in it. How easily it can be had thus. But for that it is essential that the Master too must be of great calibre. The problem of having the Divine Grace is thus solved. But how does it benefit us is the next question. The Divine Grace transforms the very nature of the entire being of the Abhyasi who thereby goes on getting more and more absorbed or merged in it. As a result there atlast remains nothing in him but the Divine Grace alone in all his being. That is what divinisation actually means.

In Sahaj Marga we start with it from the very first day. We have not so for taken into account the idea of surrender at all and we have finally reached up to the stage where the very existence is dissolved or negativated. Now decide for yourself whether it is surrender in the real sense or not. Absorbancy in Brahman is the end of all activity and surrender is the step."

—

A Thought

(Shri Raghavendra Rao B.Sc., B.E., M.I.S.E)

The ideology of our mission has to be spread by us through our living. Our life should be a dynamic model of the ten commandments of Sahaja Marga. We can not hope to spread the message of the Great Master if we ourselves are not soaked in it? We believe that the Master will give us the required power whenever necessity arises for it. No doubt it is a good belief but let us not make it a native one. How can we hope to become transmitters when we have not become good receivers? When we becomee perfect receivers we automatically begin to transmit.

There is wonderful beauty in Sahaj Marga. It is ever fresh. There is not the slightest chance of stagnation or mechanicalness for those who proceed on this path. The reaction of alien thoughts has made us gross and solid. The evils of narrow mindedness bigotry and fanaticism were slowly coming in us also. Thanks to the Great Master such evils can no more trouble us. They have been apprehended and nipped in the bud before they could cause any great damage. No doubt we have got a great

Master. But this is no excuse to develop 'Aviveka' and 'Moha', and to go on thinking about the worldly pleasure. If we want to indulge in all sorts of worldly pleasure can we hope to get any benefit out of the transmitted power of the Master ? It is only when there is perfect co-operation, quick results can follow. I have come across an impertinent fellow who even challenged the Master to give him higher approaches immediately without bothering about the consiquences. Of course the Master excused him for such impudence. After some weaks, when the Master actually gave him sufficient power, that fellow started to misuse it without realising that. He who can give can take it back also. But the Master being infinitely compassionate, instead throwing him into hell for such behaviour, gave him a mild punishment of removing him away from our Mission.

As one of the preceptors of the Mission I am duty-bound to place before you these thoughts. I want to stress the point that once we have chosen the Master and found Him to be the only one suited for our upliftment we must cooperate with Him in the fullest sense of the world. We must have all our old habits of forming mental projections. Even after year of practice

heritage. Now it will be further enriched and glorified. And we should be proud that we shall be the architects. The seeds have been sown by the Master. We have to take care of its proper growth. This is a great responsibility which Nature is demanding of us to shoulder. Those who rise to the occasion will survive, others will wither away.

Whenever I see my associates being carried away towards the worldly attractions my heart melts with compassion for them. And many a time I find them disillusioned because they find that the things they had thought to be attractive proved to be repulsive on closer examination. But instead of developing a state of renunciation and non-attachment and instead of developing discrimination and right understanding with such bitter experiences it is a pity to see that they turn to think of new sources of attractions of the world. On the top of it they quote the scripiture; "One should wish to live for a hundred years .." What miserable life. No doubt SahajMarga does not take up Viveka and Vairagya as separate practices but considers them as the result of the practice of meditation. No doubt the lower tendencies of the Abhyasi are weakened by the transmitted power of the

and sufficient advancement some abhyasis complain about their progress. And it is a very strange thing that such complaints are heard only in our Mission. In other Sansthas the "Chelas" are very docile and tame. Even the thought of spirituality does not cross their minds. They are most obedient to their gurus who are very often threatening task-masters. A gentleman who has been a member of a so-called spiritual organisation for than seven years had come to me for "Abhyas" After a few days of practice of Sahaj-Marga he expressed that he got a lot of benefit from this method. But although he has realised the efficacy of our method he finds himself unable to get rid of his old bondage. Such is the spell of others. But here, alas, our brothers are attracted towards each silly fellow who claims to be a guru, Another strange fact observed is that the moment a fellow is given the garb of a particular colour he feels himself completely converted and starts to act as a guru. But here even after reaching very advanced stages, the abhyasis consider themselves unable to carry out the orders of the Master. This sorry state of affairs must come to an end. How long should we remain in the infant classes ? Just as it is ridiculouc for our abhyasis to refuse to advance. You may thing that

you are showing your humility by saying that you have not progressed. Suppose you are a graduate then do you say that you are only a high school passed boy and not a graduate ? Hence we must shed away all such weakening thoughts regarding our progress etc. , and having unflinching faith in the words of the Master. Let us resolve to prove Him right. This is the real test of our love and faith.

× × ×

In fact ego is not something bad as they most often misrepresent it. In its broader sense it is the only thing that offers the clue of God. The very first thought in the being of man was that of Ego. Mind and Ego are the only things worth having, in a man.

× × ×

One often finds himself incapable of realising the Infinite. This is due to the fact that generally one goes on with his efforts. That is the only veil. In other words one tries to realise Him with his egoistic mind.

Talks on Efficacy of Rajayoga

(Dr. K. C. Varadachari M. A. Ph. D.)

(गतांक से आगे)

The difficulty is due to the very nature of the transference of outer experience to the inside. It becomes gross kind of meditation for the outer is the gross expression of the inner. Thus there has been a great deal of difficulty in convincing the meditator about the change of external experience in meditation. One should let oneself go in the inner and experience the flow of the Master's superconsciousness within oneself. Surely it may reveal many experiences. At each state of ascent there will be experienced different kind of lights. The ascent itself is featured by various experiences at the several cakras or knots. Master Ramachandraji points out that the entire cakras or knots begin to glow as the Superfine consciousness begins to pass through them.

The most important thing above all is the awakening of the Heart Region. Once the heart region begins to glow then there is the starting of the Journey (Yatra).

It can be seen that one must have chosen the Superconscious Personality for the Meditation who is the Ultimate. The meditation on him means connecting oneself with devotion and love.

The meditation is to be a kind of surrender to that leading superfine superconsciousness which promotes renunciation and other sadhana-sampattis comprised in the triple words, plainness, simplicity and calmness and resignation.

Whatever has been gross is slowly dissolved, and one naturally proceeds to the Ultimate state of the Supreme Personality. The worship of Supreme Personality does not mean worship of the gross forms but forms open to the inner mind which are subtle and superfine. Idolatry is the worship of the gross form whereas worship is of the subtlest nature. All gross forms will melt away into the subtlest nature and this is what is experienced as the identity of all manifest forms in the Ultimate. The Sahajmarga insists upon the subtlest meditation so as to purify the inner as well as outer perceptions and arrive at true nature of thing as they are in the Ultimate.

Thus we are enabled to explore the Heart region which is counselled as the initial place of meditation for embodied beings.

We have spoken about the need to concentrate on the Highest Personality or the Ultimate

in order to arrive at that condition which is our real Goal. It is clear that we have to distinguish between concentration and meditation. The original distinction in the Yoga sutras is between dharana and dhyana. They are two stages of the increasing absorption in the Ultimate. Meditation is the natural manner of keeping one's attention on the Supreme personality. During this period every abhyasi experiences the influx of lot of everyday thoughts and feelings. These have the nature of interfering with our constant attention, and effort seems to be demanded to check the influx of these thoughts etc., (called citta-Vrtti) both from our past and from outside. The need to throw out all these is also felt seriously. Dejection seems to overtake most abhyasis. However Master Sri Ramachandraji has stated that these can be checked by the process of cleansing the points A and B which are very valuable means. Secondly he has also stated that if there is real surrender to the Master and one has placed oneself entirely at his hands, depending upon him as the only means, then these intrusions and influxes which are even referrable to our past lives in the form of sanskaras can be thrown out even at the very moment of their arising. The Buddhist Jhana indeed teaches the necessity of

checking the influx of these vrittis or mental modification even as they arise, and this requires the heightened consciousness of arising of these subtle elements. It is hardly successful. This technique of destruction or annhilation of citta-vrittis is also practised by the Zen buddhists of Janan and also certain modern schools. However all these require errortful meditation or vigilance. In the SahajaMarga this is achieved natura. lly effortlessly by the influx of the transmissional force of the Supreme which neutralises the entire incoming and arising vrittis. Therefore even though they seem to be coming into oneself they no longer disturb the meditation. One feels a calm that is the essence of detachment from them. Once this detachment from these vrittis occurs there is then a slow abolition of their occurance. A and B points which are the special discovery of the Master Sri RamchandraJi get cleansed fully and become free from any possibility of being made seats of lower thoughts. Thus the principle of Yoga-vitarkabhavane pratipaksa bhavanam-substitution of the higher in the place of the lower or the perverse is masterfully adopted to this new technique of purification. After this meditation becomes naturally purified from all citta-vrittis owing to the purification of

the centres A and B, concentration becomes naturally established.

Master has already given the method of this purification by those who have surrendered to the Master is described as the Ocean of Bliss, bliss of course means the Ultimate though we go beyond Bliss itself to the state that makes Bliss possible. We are also asked to think that we are seated in this Ocean which is the Master. The waves of the Ocean which have the property of removing all dirt and disease (which are the causes of our misery) are experienced as flowing through us, having this unique quality even like the X-rays which can pass through us. Thus the dirt and disease are removed. These can be of the physical and vital and mental kinds; usually adhibhautika, adhyatmika and adhidaivika causes of our misery, are said to be those which come from the external world, those which arise from our physical vital and mental make up and those which are due to the higher powers which are cosmic. Whatever they are they all get removed by this incoming descent or interpenetrating flow of the waves of the Ocean of Bliss which is the Supreme Master. This suddhi or purification leads to the clear and calm dayana or meditation

concentration.

A deep consideration of the manner of meditation is necessary. What exactly does meditation do ? Is it merely a linking up of oneself with the object or is it also the experience of the feeling that one is slowly being lifted up to that object. There is no doubt that one does experience the coming into oneself of the object in the form of waves of Bliss (anandalahiri), which is followed by the ascent of of oneself to the centre of the Ocean of Bliss. This is very much like the description of certain fishes which go up stream counter to the flow of the stream. Now it is necessary to enter into this a little more carefully.

We can see that when anything flows down it is seen to twist itself in a wavy manner. Liquids twist as they flow down. Waves of light and energy move in a wavy manner.

Describing this we can say that things when they move or flow have the nature of twisting or inverting the top becomes the bottom, the right becomes the left and upper becomes the lower and the lower becomes the upper. This anatropism or the principle of intertendo spoken of by Sri Ramachandraji.

Topsy—turveydom is a natural result of this flowing downwards of everything. Upto a particular point this is tolerable but as these inversions continue to pile up distortion and grossening of the same occurs. Indeed at one stage the limit or flow having been reached there is solidification and thus the physical is solidification wherein the flow has become stopped except in a very little sense. The so called changelessness of matter is in a sense an inversion of the Changeless State at the beginning, its counterpoint so to speak. (Continued)

If God is "Light", how will one account for darkness. Where there is darkness, there is of course no light. Does that mean there is no God? We have, infact, to get rid of both. But it is easy to get rid of darkness while it is very difficult to get rid of light.

× × ×

It is very difficult to explain God because there is nothing to compare Him with. We are therefore compelled to take-up the method of contrast.

❀ सहज मार्ग के नियम ❀

१ प्रत्येक भाई प्रातः सूर्योदय से पूर्व उठे, संध्योपासना नियमित समय पर जहां तक हो सके समाप्त करले। पूजा के लिये एक पृथक स्थान और आसन नियत कर ले। यथाशक्ति एक ही आसन से बैठने की आदत डालें, और शारीरिक व मानसिक पवित्रता का अधिक ध्यान रक्खें।

२ पूजा प्रार्थना से आरम्भ की जावे। प्रार्थना आत्मिक उन्नति के लिये होना चाहिए, और इस तरह पर की जावे कि हृदय प्रेम से भर आवे।

३ प्रत्येक भाई को चाहिए कि अपना ध्येय अवश्य निश्चित करले, और वह यह कि ईश्वर तक पहुँच कर उसमें अपनी लय अवस्था प्राप्त करके पूर्ण स्थिति प्राप्त करले, और जब तक यह बात प्राप्त न हो जावे चैन न आवे।

४ अपना जीवन साधारण बना लेवें, और वह ऐसा साधारण हो कि निसर्ग (आदि प्रकृति) से मिल घुल जावे।

५ सच बोलें, और प्रत्येक कष्ट को ईश्वर की तरफ से अपनी भलाई के लिये समझें और उसका धन्यवाद दें।

६ सारे जगत को अपना भाई समझें, और सबके साथ ऐसा ही व्यवहार करें

७ यदि किसीसे कोई कष्ट पहुँचे, तो उसका बदला लेने के इच्छुक न हों, वरन् ईश्वर की तरफ से समझें और उसको धन्यवाद दें।

८ भोजन करने के समय जो कुछ मिल जावे प्रसन्नता से पावें, और ईश्वर की याद में भोजन करें, शुद्ध और पवित्र कमाई का ध्यान रहे।

९ अपना रहन-सहन और व्यवहार इतना सुन्दर बना लें कि जिसको देखने मात्र से ही लोगों को पवित्र आत्मा होने का भास हो, और लोग उससे प्रेम करने लगें।

१० यदि कोई अपराध भूल से होजावे तो सोते समय ईश्वर को अपने सम्मुख समझ कर उससे दीनता की अवस्था में क्षमा मांगे, और पश्चाताप करें, और प्रार्थना व प्रयत्न भी करें कि भविष्य में कोई अपराध न होने पावे।

गांधी प्रेस, शाहजहाँपुर द्वारा मुद्रित